

औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिक समस्या का उद्भव एवं विकास

डॉ. अर्चना सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति शास्त्र
महाराज बलवंत सिंह पी0जी0 कॉलेज
गंगापुर वाराणसी

साम्प्रदायिकता एक ऐसा भाव है जो एकाधिक पंथों अथवा सम्प्रदायों के लोगों के मन में अपने सम्प्रदायों के हितों, व्यक्तिगत स्वार्थों, धार्मिक प्रतिष्ठानों एवं राजनैतिक सत्ता संघर्षों को लेकर दंगे के रूप में बदल जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो दो मतावलम्बियों, धर्मानुयायियों के बीच छोटी-छोटी बात पर झगड़ा हो जाए और उस झगड़े का स्वरूप साम्प्रदायिक हो जाए वही साम्प्रदायिकता हो जाती है। प्रभा दीक्षित का कहना है कि “साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएं व क्रिया-कलाप आ जाते हैं, जिनमें किसी धर्म, जाति अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाए उस समूह में पृथक्ता की भावना उत्पन्न की जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए।”

19 वीं सदी के अंत तक राष्ट्रवाद के उदय के साथ-साथ सम्प्रदायवाद ने भी सर उठाया और राष्ट्रीय आंदोलन की एकता के साथ ही भारतीय जनता की एकता के लिए भी खतरा पैदा हुआ। साम्प्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा है। साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता के समानान्तर सत्ता स्थापित करती है। मोईन शाकिर कहते हैं कि भारतीय संदर्भ में साम्प्रदायिकता का अभिप्राय भारतीय राष्ट्रीयता के विरोध का परिणाम भी हो सकता है। भारतीय समाज के बहुमत का चरित्र और इसकी अनेकता का प्रादुर्भाव समान राष्ट्रीयता की चेतना से हुआ है। भारतीय राष्ट्रवादियों के लिए साम्प्रदायिकता महत्वपूर्ण थी क्योंकि राष्ट्रीयता नहीं थी। भारत में राष्ट्रवादियों के लिए साम्प्रदायिकता शासन तंत्र के अभिशाप के रूप में है।” विन्सेट स्मिथ का मानना है कि “एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है, जो प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक् सामाजिक तथा राजनैतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक् होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसी ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की विचार धारा को ‘सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता’ कहा जायेगा।

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या को केवल हिन्दू-मुस्लिम अथवा इसको हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का विरोध मानना ठीक नहीं। साम्प्रदायिक प्रश्न का आधार राजनैतिक अधिक और धार्मिक कम है। इन दो धर्मों के अतिरिक्त इस त्रिभुज में एक तीसरा पक्ष भी था। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच अपने आपको स्थापित कर एक साम्प्रदायिक त्रिभुज खड़ी कर दी। इस त्रिभुज के सबसे दृढ़ तथा आधार भुजा अंग्रेज थे। वे न ही मुसलमानों के मित्र थे, न ही हिन्दुओं के शत्रु। वे तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मित्र थे और “बांटों और राज्य करो” में विश्वास करते थे। हम देखते हैं कि साम्प्रदायिकता की समस्या मुख्यतः धार्मिक की अपेक्षा प्रारम्भ से ही राजनीतिक अधिक रही। साम्प्रदायिकता, मध्ययुग का अवशेष नहीं था। आधुनिक काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक, सामाजिक मतभेदों का पूरा लाभ उठाते हुए अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने इसका प्रयोग राष्ट्रीयता के प्रभाव को कम करने में किया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत के दो प्रमुख समुदायों हिन्दू-मुस्लिम में साम्प्रदायिक संघर्ष के उदाहरण नहीं मिलते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि मुस्लिम शासकों के विरुद्ध कोई विरोध या विद्रोह नहीं हुआ। केन्द्रीय सत्ता के ढीले पड़ते ही सामंती विद्रोह की घटनाओं से मध्यकालीन इतिहास भरा पड़ा है, परन्तु मुस्लिम सत्ताधारियों के विरुद्ध इन चुनौतियों का आधार साम्प्रदायिक नहीं था। विद्रोह का नेतृत्व करने वाले हिन्दू और मुस्लिम दोनों थे। उनके नेतृत्व में युद्ध करने वाले सैनिक भी दोनों ही संप्रदायों के थे। मध्यकाल में ऐसा नहीं देखने को मिला कि किसी का धर्म उसकी स्वामी भक्ति में बाधा बना हो। इन तथ्यों का आधिकारिक पुष्टीकरण स्वयं साइमन कमीशन की रिपोर्ट (1930) में किया

गया है। इस रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है कि ब्रिटिश प्रांतों की तुलना में भारतीय रियासतों के सीमा क्षेत्रों में साम्प्रदायिक वैमनस्य नहीं के बराबर है। इसका कारण स्पष्ट था, देशी रियासतों में उस राजनैतिक प्रतिस्पर्धा का अभाव था, जिसका जन्म ब्रिटिश प्रांतों में 20 वीं शताब्दी की प्रतिनिधि शासन प्रणाली के प्रारम्भ से हुआ। साम्प्रदायिक समस्या 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु बन गया। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में साम्प्रदायिकता की बहुत बड़ी भूमिका है और यह भूमिका ही इसके महत्व की परिचायक है।

औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि वह साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने में सक्षम थी। मुगल काल तक ग्राम गणतन्त्र की परिपक्वता, सामाजिक-आर्थिक समन्वय पर आधारित थी और ऐसे ढांचे में जनसामान्य के स्तर पर साम्प्रदायिक विभेद उत्पन्न नहीं हो सकता था। अंग्रेजों ने ग्रामीण आर्थिक ढांचे को नष्ट करके इसमें भी विभेद की गुंजाइश उत्पन्न कर दी, इसके लिए साम्प्रदायिक शिक्षा को आधार बनाया गया। 20वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शिक्षा के विस्तार से शिक्षित नौजवानों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई, जिनके पास जीवन यापन का साधन उपलब्ध नहीं था। 1924-1932 ई० की आर्थिक मंदी ने इनकी समस्या को बढ़ा दिया ऐसे में यह वर्ग धार्मिक मामलों के उत्पन्न होने पर साम्प्रदायिक दंगों में सक्रिय हो जाता था। 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में मध्यवर्गीय मुस्लिमों का मानना था कि सरकारी नौकरियों तथा व्यवसायों में मुस्लिमों का हिस्सा बढ़ जाये तो उनकी स्थिति मजबूत हो जायेगी। ऐसे में हिन्दूवादी संगठनों का मानना था कि मुसलमानों का हिस्सा बढ़ने से हिन्दुओं का हित प्रभावित होगा। जिससे ये वर्ग एक दूसरे के क्रियाशील हो गये। आरक्षण व क्षेत्रवाद ने इसे और अधिक व्यापक किया। पाल ब्रास का मत भी इस बात के निकट है वह हिन्दू-मुस्लिम अलगाव के कुछ कुछ तत्वों को चिन्हीत करते हैं। जैसे कि मुसलमान आधुनिक शिक्षा पद्धति में हिन्दुओं से पिछड़े थे। परिणाम स्वरूप इसके लिए मुस्लिम वर्गों ने शैक्षिक व राजनीतिक संगठन के माध्यम से इस पिछड़ेपन को दूर करने का प्रयास किया। इसके पीछे मुस्लिम अभिजात्य वर्ग यह तर्क देता है कि 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष के पश्चात् मुसलमान अपने मूल से स्थापित हो गये हैं और अंग्रेजी शिक्षा में रुचि न लेने के कारण सरकारी नौकरी से वंचित होते गये। एक अन्य तर्क दिया गया कि आम मुस्लिम वर्ग गरीबी के कारण आधुनिक शिक्षा को नहीं अपना सका और रोजगार के अवसर से वंचित हो गया। एक अन्य तथ्य कि हिन्दू जो इस तरह की प्रवृत्तियों से अलग थे अवसर का लाभ उठाया। अब बाद में आते-आते अलीगढ़ आंदोलन के उद्भव के पश्चात् मुसलमानों ने भी राजनीतिक संगठन बनाना शुरू किया, हिन्दुओं से एक रूप से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हो गयी। अब मुस्लिम वर्ग शिक्षा, प्रशासन, राजनीति के क्षेत्रों में विशेष सुविधा की मांग करने लगे। बाद के समय तक स्थिति ऐसी हो गयी कि मुस्लिम राजनीतिक दलों ने हिन्दुओं और कांग्रेस का लगातार विरोध करना शुरू कर दिया जो बाद में इतिहास में एक काला दिन के रूप में दर्ज हुयी।

साम्प्रदायिकता किस तरह से शनैः शनैः भारतीय वातावरण में अपने पैर को जमा रही है इसके पीछे के कारणों का अध्ययन इस अध्याय में किया जायेगा। औपनिवेशिक काल में कैसे भारतीय राजनीति साम्प्रदायिकता से प्रभावित होती है एवं राष्ट्रवाद के दौर में साम्प्रदायिकता ने क्या नकारात्मक प्रभाव डाला इसका अध्ययन किया जायेगा। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक पक्ष कैसे साम्प्रदायिक तनाव से प्रभावित होते हैं इसका अवलोकन करना जरूरी होगा। भारतीय एवं विदेशी इतिहासकारों ने औपनिवेशिक शासन तंत्र के समय साम्प्रदायिकता को किस प्रकार समझा है उसका रेखांकन आनिवार्य होता है तभी एक स्पष्ट निष्कर्ष निकल कर आने की संभावना होगी।

साम्प्रदायिकता के अध्ययन में जो कठिनाई सामने आती है वह यह है कि बहुधा इसका विश्लेषण या अध्ययन करने वाले व्यक्तियों ने बहुत सी साम्प्रदायिक मान्यताओं और पूर्वाग्रहों को

स्वीकार नहीं किया है। साम्प्रदायिकता का अध्येता जब तक स्वयं इन मान्यताओं को अपने अंदर खोजने का सायास प्रयास नहीं करता तब तक उसका यह अध्ययन मूलतः निरर्थक हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि साम्प्रदायिकता के अध्ययन के साथ-साथ साम्प्रदायिक विचारधारा का आलोचनात्मक विवेचन-विश्लेषण भी किया जाए। इस तरह वस्तुतः धर्म को छोड़कर अन्य कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जहां हिन्दुओं तथा मुसलमानों या ईसाइयों या सिक्खों के अलग से अपने-अपने सामूहिक हित हो। अधिकतर स्तरों पर हिन्दुओं एवं मुसलमानों के आर्थिक तथा राजनीतिक हित एक ही थे। हिन्दुओं और मुसलमानों आदि के रूप में तथा धार्मिक समूहों के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर उनका सामूहिक आर्थिक जीवन तथा हित, सामूहिक राजनीतिक जीवन तथा हित आदि एक दूसरे से अलग नहीं थे। परन्तु वे अपने हिन्दू अथवा मुसलमान साथियों से क्षेत्र या भाषा या संस्कृति या वर्ग, या खान-पान और वेषभूषा संबंधी आदतों में अलग थे तथा धर्मानुयायियों से इन्हीं आधारों पर संगठित थे।

आधुनिक भारत में साम्प्रदायिक चेतना अथवा विचारधारा का जन्म औपनिवेशिक प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति के रूपांतरण के फलस्वरूप हुआ है। स्मिथ, साम्प्रदायिकता पर अपना मत बताते हैं कि “यह प्रत्येक धर्म के अनुयाइयों के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं पर जोर देती है, साथ ही इनके बीच अंतर और शत्रुता के भाव को भी रेखांकित करती है। बिपिन चन्द्र कहते हैं कि— “साम्प्रदायिकता एक ऐसा विश्वास है जिससे यह लगता है कि जिन लोगों का एक ही धर्म है उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित भी समान है। शशि जोशी भगवान जोश साम्प्रदायिकता के स्वरूप को मुख्यतः सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में देखते हैं। इम्तियाज अहमद का मत है कि— “सामान्यतः साम्प्रदायवादी दृष्टिकोण समाज विरोधी होता है। उन्हें समाज विरोधी इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों और सम्पूर्ण देश के हितों की अवहेलना करता है।

हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर जितने भी धर्म, पंथ और सम्प्रदाय हैं उन्हें संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई है उन्हें पूरी तरह से स्वतंत्रता दी गई है कि वे अपने धर्म के पालन करने, धर्म का प्रचार करने तथा एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकार करने हेतु स्वतंत्र है। इन धर्मों के स्वतंत्र होने से कोई भी धर्म दूसरे धर्म की स्वतंत्रता के विरोध में नहीं आता, किन्तु जब धर्म के विरोध में कोई समस्या खड़ी हो जाती है, या कि कोई दूसरा धर्म किसी धर्म पर आक्षेप लगाता है तब साम्प्रदायिकता की ज्वाला उठनी शुरू हो जाती है। आरिफ मोहम्मद खां का मत है कि “साम्प्रदायिकता का जन्म विचारधारा से होता है। जब कोई भी राजनीतिक संगठन या सामाजिक-धार्मिक संठगन इस बात को प्रचारित करने लगे कि इंसान की जो धार्मिक आस्था है, उससे संबंध रखने वाले लोगों के भौतिक व सामाजिक हित भी एक है, लेकिन ये हित की समानता सिर्फ अपने सम्प्रदाय के लिए और दूसरे सम्प्रदाय से भिन्न एवं परस्पर विरोधी है, तो साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। जवाहर लाल नेहरू कहते हैं कि “एक साम्प्रदायिकता से दूसरी साम्प्रदायिकता समाप्त नहीं होती। प्रत्येक एक दूसरे को बढ़ावा देती है और दोनों ही पनपती हैं।” नेहरू, 1944 में कहते हैं कि “यह एक संकीर्ण मनोवृत्ति है, जो एक धर्म समुदाय को अपना आधार बनाती है, परन्तु वास्तव में इसका संबंध उस वर्ग विशेष के लिए राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक संरक्षण से है।”

साम्प्रदायिकता के रूप में औपनिवेशिक इतिहासकारों का लेखन यह दिखाता है कि वह साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से पूरी तरह प्रभावित थे। लुइस ड्यूमॉंट यह कहते हैं कि “साम्प्रदायिकता अपना अर्थ समान्तर वस्तुओं के साथ अभिव्यक्त करती है। इससे पूर्व औपनिवेशिक लेखकों एवं शासकों के द्वारा रुचिपूर्ण, नस्ल, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, वर्ग जैसे बहुवाचक शब्दों का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया, जिसका उद्देश्य उपमहाद्वीप को अलग-अलग राजपूतों, सिक्खों, मुसलमानों, और भीलों आदि के रूप में व्यक्त करना था। वहीं स्मिथ कहते हैं कि “भारतीय मुसलमान, मुसलमान और भारतीय दोनों हैं। इस द्वैतता में से जब किसी एक को ही मानने का प्रयास

होता है तब स्थिति को हम विस्फोटक कह सकते हैं। यहां इन दोनों ध्रुवों के रचनात्मक संश्लेषण में बौद्धिक प्रयास असफल हुए हैं।” भारतीय मुसलमानों की इस द्वैतता में भारतीय तथा मुसलमान दोनों तथ्य समान एवं अन्योन्याश्रित हैं। भारतीयता पर अनावश्यक दबाव भारतीयता के सिद्धांत की पूर्णता की कल्पना करता है, जबकि इसकी अनदेखी करना राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को नुकसान पहुंचाना है। थियोडोर मॉरिसन का मत है कि “हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच अन्तरो की व्याख्या करना व्यर्थ है। केवल एक मात्र चीज जो वास्तविक है वह यह है कि दोनों स्वयं को अलग मानते हैं अगर इसे मानक माना जाए तो भारत के मुसलमान एक राष्ट्र हैं और साम्प्रदायिक विभेद वास्तव में एक राष्ट्रीय ईर्ष्या है। अगर देखें तो साम्प्रदायिकता इस अर्थ में राष्ट्रवाद प्रतीत नजर आयेगी परन्तु भारतीय राष्ट्रीय नेताओं के लिए यह राष्ट्रवाद नहीं था यह उससे भिन्न था, इसलिए साम्प्रदायिकता, राष्ट्रवाद का मुख्य दुश्मन था।

ज्ञानेन्द्र पाण्डेय का मानना है कि “साम्प्रदायिकता एक तरह का औपनिवेशिक ज्ञान है। विडम्बना यह है कि साम्प्रदायिक लोगों की तुलना में राष्ट्रवादियों ने ही साम्प्रदायिकता को अधिक प्रचारित किया। समकालीन राजनीति तथा आधुनिक इतिहास लेखन में साम्प्रदायिक विचार का अर्थ इस धारणा को स्वीकार करना था कि भारत में धार्मिक संप्रदायों का अस्तित्व था जिन के सामान्य सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक हित थे और उनमें इन क्षेत्रों में एकता अथवा पहचान के रूप में कार्य करने की प्रवृत्ति भी थी। बिपिन चन्द्र कहते हैं कि इतिहासकारों ने बहुधा “हिन्दू तथा मुसलमानों के संबंध में लिखा जिनकी ‘सोच तथा भाषा’ अलग थी तथा जिनकी पहचान भी अलग थी।” कभी-कभी उन्होंने इसी प्रकार ‘हिन्दू नेताओं’ तथा ‘मुस्लिम नेताओं’ के संबंध में भी लिखा। इस प्रकार उन्होंने दो राष्ट्र के सिद्धांत को मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय इतिहास पर भी लागू किया कुछ इतिहासकारों ने तो इसमें सिक्खों को भी शामिल कर लिया, इस प्रकार उन्होंने भारतीय राजनीति तथा समाज में साम्प्रदायिक धारणा को जन्म दिया। ज्ञानेन्द्र पाण्डेय कहते हैं कि “साम्प्रदायिकता को परिभाषित करने में समस्या होती है क्योंकि बहुसंख्यक सम्प्रदाय की साम्प्रदायिकता में राष्ट्रीयता के रूप में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति होती है जबकि अल्पमत में उपराष्ट्रीयता की।

बिपिन चन्द्रा कहते हैं कि “संबंधित धार्मिक सम्प्रदाय आधुनिक भारतीय राजनीति के संगठन का आधार बन चुके हैं। भारतीय समाज साम्प्रदायिक पहचान और बंटवारे के लिए निरंतर संघर्ष में जलता रहा है। वह पुनः एक सम्प्रदायवादी के मानसिक और वैचारिक गठन पर बल देने का प्रयास करके इसका विस्तार करते हैं। सम्प्रदायवादी मानता है कि भारतीय समाज का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयों पर सर्वाधिक सार्थक विभेद इन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर ही होता है। भारतीय समाज अपने अस्तित्व, सामाजिक व्यवहार सामूहिक या गैर व्यक्तिगत हितों की रक्षा केवल इन धर्म आधारित सम्प्रदायों जिनका हित, दृष्टिकोण, जीवन शैली आदि समान होती है के सदस्य के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से कभी व्यवहार नहीं करते हैं और न सोचते एवं महसूस करते हैं। अगर धर्म की बहुलता है और परम्पराओं में विविधता है तो इसका अर्थ ये नहीं कि यह साम्प्रदायिकता का प्रतिनिधित्व कर रहा है एवं श्रद्धा के जो विभिन्न रूप हैं और उनके बीच कोई प्रतिस्पर्धा है तो यह भी कोई साम्प्रदायिक सोच का परिणाम नहीं है। मोईन शकिर का मत है कि “अपने धर्म के प्रति गर्व है तो यह साम्प्रदायिकता नहीं कही जानी चाहिए। यह अन्य धर्मों के प्रति एवं संस्कृति के प्रति धृणा का भाव नहीं है, निष्कर्षतः धर्म अलौकिक विचारों का स्वरूप नहीं है, परन्तु इस प्रकार धर्मों का सामाजिक पहलू अतार्किक एकात्मक समूहों को उत्पन्न कर सकता है। हैस क्रूज के अनुसार “साम्प्रदायिकता वहां होती है जब इसके सदस्य अपनी धार्मिक निष्ठा राजनीतिक प्रशासन चलाने वाली इकाई के विपरीत विकसित कर लेते हैं।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने संभवतः पहली बार साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल का सीमांकन करके इतिहास को काल खण्डों में विभाजित कर

दिया। जो पाठ्यक्रमों में प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास के रूप पढ़ाया जाता है। इतिहासविद् यह तर्क देते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड़ इतिहास में ही वापस जाती है, परन्तु इस प्रवृत्ति को सही सिद्ध करने में लोगों द्वारा इतिहास का व्यापक पैमाने पर दुरुपयोग भी किया गया। स्मिथ इस बात को मानते हैं कि “यह इस्लाम ही है जिसने भारतीय मुसलमानों को साम्प्रदायिक बनाया मुस्लिम जो कि अल्पसंख्यक है, अपने को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखा, अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा। भारत की ही तरह मुस्लिम समस्या, इथोपिया, थाइलैण्ड, एवं फिलीपीन्स में भी है। भारत में साम्प्रदायिकता को ऐतिहासिक तौर पर राष्ट्रीयता के प्रतिपक्ष के रूप में निर्धारित किया गया, ऐसा दूसरे देशों में शायद नहीं है। “साम्प्रदायिक विचारधारा के विकास के कारण ही साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा समाज को एक विशेष नजरियें से देखने और गतिशील करने का मार्ग है, जिसको बढ़ावा देना 19 वीं शताब्दी के अंतिम समय से प्रारम्भ हुआ। भारत में साम्प्रदायिक विचारधारा की कल्पना तब हुयी जब समाज समरूप धार्मिक सम्प्रदायों में बंटा, जिसके धर्म निरपेक्ष हित समान थे अर्थात् उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित दूसरे धर्मों के हितों से अलग और विरुद्ध थे। बिपिन चंद्र मानते हैं कि “साम्प्रदायिकता का आधार ही यह धारणा है कि भारतीय समाज कई सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जिसके हित न सिर्फ अलग है बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं। साम्प्रदायिकता के जन्म के पीछे का विश्वास यह भी है कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए लोगों को सिर्फ धर्म की रस्सी से बांधकर ही आंक सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अलग-अलग समुदायों के हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख ईसाई सिर्फ धार्मिक ही नहीं बल्कि धर्म से परे मामलों में भी एक निश्चित समूह की तरह आचरण करेंगे क्योंकि उनका धर्म एक है।” गोपीनाथ कालभोर साम्प्रदायिक विचार धारा पर अपनी राय व्यक्त करते हैं कि “समूहों के हितों के बीच होने वाले टकराव का रूप जब विध्वंसक और दंगाई हो जाए तो तब वह साम्प्रदायिक कहलाता है। हालांकि कालभोर की बात पूरी तरह तर्क संगत तो नहीं हो सकती क्योंकि बिना दंगे के भी साम्प्रदायिक विचारधारा एक तनाव निरंतर बनाये रखती है जो कि हमेशा कठिनाई उत्पन्न करता है और संकीर्णता को बढ़ावा देता है जिससे विकास शिथिल हो जाता है।

साम्प्रदायिकता धार्मिक, भाषागत, नृत्वतीय आधारों पर अस्तित्व में आती है जो राजनीति के छायाछत्र में आकर विकसित होती है। रामपुनियानी ने साम्प्रदायिकता को राजनीति की गंदी हरकतों का परिणाम कहा है। पुनियानी कहते हैं कि साम्प्रदायिकता का एक भयानक सच साम्प्रदायिक हिंसा है जो “समाज में गहराई से कर गई सड़न की अभिव्यक्ति है।” भारतीय परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिकता व्यक्तिगत मानी जा सकती है। पश्चिमी देशों द्वारा जो पूर्व में तुलना की गयी थी वह जातीयता या युगीन घटनाओं पर आधारित थी। त्वचा के रंग को धर्म के लिए निर्धारित किया जाना महत्वपूर्ण था। बहुत पहले से भारतीय समाज धार्मिक-साम्प्रदायिक श्रेणियों में विभक्त नहीं था, ऐसा अब विश्वास के साथ कहा जा सकता है। जो भारत का परम्परागत समाज था वह अपनी-अपनी धर्म की मान्यताओं व सामाजिक प्रथाओं से जुड़ा था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे साम्प्रदायिक विभाजन के लिए उत्तरदायी ही हो। हम भारत के अतीत में जाकर देखें तो यही मिलेगा कि धार्मिक मान्यताओं एवं कर्मकाण्डों को लेकर तनाव नहीं फैला, जब तक कि उससे किसी बाहर के तत्व ने उकसाने की कोशिश न की हो। इतिहासकार बिपिन चन्द्र धर्म को साम्प्रदायिक स्तर पर विभक्त करते हैं। साम्प्रदायिक आदर्शवाद इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि कैसे धर्म एक निजी आस्था का विषय होते हुए आम जनता का विषय बन जाता है और आगे चलकर राजनीतिक हितों एवं आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए संगठनात्मक आहार प्रदान करता है। एस० मोहंती साम्प्रदायिकता को इस रूप में परिभाषित करते हैं कि “जिसमें लोग एक धर्म के साथ-साथ समान सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों में भी विश्वास करते हैं। असगर अली इंजीनियर “साम्प्रदायिकता को समाज के उच्च वर्ग के लोगों एवं उनके वर्गीय हितों के संघर्ष से जोड़कर देखते हैं। साम्प्रदायिकता

समाज के दो भिन्न धर्मों/वर्गों के बीच तनाव के रूप में होती है। लेकिन परोक्ष तौर पर देखें तो साम्प्रदायिकता जातिगत आधार पर रोजगार, शिक्षा, वाणिज्य और राजनीति आदि में विभेद का परिणाम होती है। गुलाम रब्बानी तबन साम्प्रदायिकता को एक सामाजिक समस्या मानते हैं और इसका कारण वह सम्प्रदायवादी ताकतों को बताते हैं। प्रभा दीक्षित साम्प्रदायिकता का सूक्ष्म विश्लेषण करती है और वह साम्प्रदायिकता की व्याख्या राजनीतिक सिद्धांत के रूप में करती है। राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए धार्मिक-सांस्कृतिक विभेदों का उपयोग करना साम्प्रदायिकता है। प्रभा दीक्षित कहती है 'हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिकता धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण नहीं है बल्कि राजनैतिक सिद्धांत के रूप में उत्पन्न हुई और शक्ति प्राप्त करने के साथ बंधी थी। जैनब बानू का मानना है कि भारत में साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से राजनीतिक घटना है। साम्प्रदायिकता के उद्भव में सामूहिक पूर्वाग्रह, जातीय भिन्नता, कटुता, दंगा और शक्ति स्रोतों पर नियंत्रण स्थापित करने की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शक्ति प्राप्त करना ही इसकी जड़ है। दस्तूर आलू, 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 1906 में आगा ख़ाँ के नेतृत्व में लार्ड मिण्टों से मिलने वाले प्रतिनिधिमंडल की मुस्लिमों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांग करने को साम्प्रदायिकता का कारण मानती है। सुमित सरकार कहते हैं कि एक अन्य महत्वपूर्ण चेतना थी धार्मिक विभाजन-हिन्दू और मुस्लिम 'संप्रदायवाद' जिसे उपनिवेशवाद ने उत्पन्न और अक्सर प्रत्यक्षतः प्रोत्साहन किया। इस जटिल विषय पर स्पष्ट चिंतन के मार्ग में बाधा बनी वे दो परस्पर विरोधी रूढ़ धारणाएं, जिनका विकास 20 वीं शताब्दी में हुआ। इनमें से एक सांप्रदायिक धारणा थी जो हिन्दुओं और मुसलमानों को समांगी और अनिवार्यतः परस्पर-विरोधी इकाइयां मानती थी जो मध्यकाल से ही दो राष्ट्रों के रूप में बनी रही थीं। इसके ठीक उलट थी राष्ट्रवादी धारणा जो यह मानता था कि भारत में हिन्दू-मुसलमान कभी पूर्ण मैत्री भाव के साथ रहते थे, लेकिन अंग्रेजों ने फूट डालों और राज करो की नीति द्वारा उसे समाप्त कर दिया था। इस धारणा से यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता का जो विध्वंसक रूप हमारे समाज में आता है वह औपनिवेशिक सत्ता के आने के बाद ही दिखता है। सरकार आगे कहते हैं कि 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश में दूरसंचार एवं आर्थिक संबंधों का जो विकास हुआ उसने देशव्यापी एकता और एकरूपता का जो बल प्रदान किया।

साम्प्रदायिकता धर्म को अपना हथियार बनाती है और लोगों की भावनाओं को भड़का कर साम्प्रदायिक दंगे कराती है लेकिन साम्प्रदायिकता जैसी खूनी भावना का धर्म से प्रायः कोई संबंध नहीं है, यह मात्र लोगों को उकसाकर दिग्भ्रमित कर सत्ता में बने रहने के लिए लोगों द्वारा प्रयोग किया जाता है। अगर वास्तव में साम्प्रदायिकता का संबंध धर्म से होता तो आज हर धार्मिक व्यक्ति साम्प्रदायिक हो जाता। प्रो० नामवर सिंह कहते हैं कि "साम्प्रदायिक वे होते हैं जिनमें धार्मिक आस्था नहीं होती। यूनिस रजा अपने एक लेख में कहते हैं कि "गांधीजी, मरते समय भी जिनके मुंह से 'हे राम, शब्द उच्चारित हुआ था तथा मौलाना आजाद जो कुरान के विद्वान थे तथा अंतराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त थे, दोनों समान रूप से अत्यंत धार्मिक होने के साथ-साथ साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। यूनिस कहते हैं कि आजादी के पहले साम्प्रदायिक मुस्लिम लीग के बहुत से नेता इतने अधिक धार्मिक थे कि यह भी नहीं जानते थे कि नमाज कैसे अदा की जाती है। हम देखते हैं कि गांधी जी अपने जीवन में अत्यंत धार्मिक थे। उन्हें अपने हिन्दू होने पर गर्व था लेकिन धर्म के आधार पर होने वाले विभाजन का उन्होंने प्रबल विरोध किया। नंद किशोर आचार्य का मानना है कि "धर्म पर किसी भी तरह का विचार-विमर्श करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि धर्म एक निजी अनुभूति है। जब हम निजी अनुभूति को अन्य लोगों तक थोपने का प्रयास करते हैं या उन्हें रास्ता बताते हैं, जिससे वे भी उस प्रकार की अनुभूति तक पहुँच सकते हैं, तब ही किसी धार्मिक संप्रदाय का जन्म होता है।" यह तो स्पष्ट होता है कि धर्म और साम्प्रदायिकता एक दूसरे पर निर्भर नहीं है और यह कहना कि जो धार्मिक है वह साम्प्रदायिक भी होगा, बिल्कुल गलत है।

साम्प्रदायिकता, मनुष्य के अंदर चलने वाला एक द्वंद होता है एक मनोवृत्ति होता है। यह उस व्यक्ति पर निर्भर करेगा कि वह कौन सी वृत्ति लेकर चल रहा है। साम्प्रदायिक, जातीय रूप में भी विद्यमान है, धर्म के रूप में भी विद्यमान है, सामुदायिक रूप में भी विद्यमान है। साम्प्रदायिकता को सकारात्मक रूप से भी देख सकते हैं कि प्रत्येक संप्रदाय के लोग अपने हितों की पूर्ति करते हुए खुश रहें लेकिन जब एक संप्रदाय का व्यक्ति दूसरे संप्रदाय के हितों में हस्तक्षेप करने लगता है तो वहीं साम्प्रदायिकता अपने नकारात्मक परिवेश में चली जाती है। एस०टी० लोखण्डवाला साम्प्रदायिकता के चारित्रिक सिद्धांतों को निम्न तत्वों से व्यक्त करते हैं। प्रथम यह कि साम्प्रदायिकों का पूर्ण समर्पण अपने विश्वास एवं निष्ठा पर होता है, जिसमें विवेक का कोई स्थान नहीं होता है। द्वितीय यह कि उस जाति से संबंधित होता है, जिसके वे सदस्य होते हैं। तीसरा यह दूसरे आभिजात्य वर्गों (नेताओं) के विश्वास को परखने की इच्छा नहीं रखते अर्थात् जो नेताओं द्वारा कह दिया गया सब सही है, यहां तर्कों का अभाव होता है। और अंतिम तत्व यह बताते हैं कि यह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, क्षेत्र में इस विचार धारा द्वारा निर्देशित होते हैं तथा कभी कानून के दायरे से भी ऊपर उठ जाते हैं। अन्य स्थितियों की ओर से आँखें बन्द कर लेते हैं और भावनाओं के आवेग में बहते चले जाते हैं।

संप्रदायवाद मूल रूप से एक विचारधारा है। साम्प्रदायिक दंगे इस विचारधारा के अनेक परिणामों में से केवल एक परिणाम है। साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे आमतौर पर भले ही एक दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हों पर ऐसा है नहीं। साम्प्रदायिकता तो केवल प्रत्येक व्यक्तियों के अंदर की एक अंतः चेतना होती है लेकिन जब इस अंतःचेतना को नकारात्मक रूप से उकसाया जाता है तो वह बाहर निकलकर एक दंगे के रूप में बदलती है जिसकी परिणति भयावह हो जाती है। साम्प्रदायिक हिंसा, दंगों, हत्याओं या आतंकवादी गतिविधियों के रूप में लोगों के सामने आती रही है। साम्प्रदायिकता जब भय, डर, आतंक, घृणा पर आधारित भावनाओं के रूप में बाहर आती है और हिंसात्मक रूप धारण करती है तो यह विचारधारा के रूप में पूर्व प्रचारित साम्प्रदायिकता के तार्किक विस्तार की ही विकृत अभिव्यक्ति हाती है। साम्प्रदायिक हिंसा ही वह आधार है जिससे तनाव व हिंसा फैलती है। बिपिन चन्द्र मानते हैं कि “साम्प्रदायिक हिंसा में राजनैतिक शक्ति तथा सामाजिक एवं धार्मिक मुद्दे भी सम्मिलित होते हैं, परन्तु साम्प्रदायिकता निश्चित रूप से एक ऐसी राजनीति का विकास है, जिसका सामाजिक मुद्दों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक हिंसा, समाज में एक ऐसे भय का माहौल बना देती है कि यह अपने अनुपस्थिति में भी समाज को इसके होने की आशंका सदैव बनी रहती है। चूंकि साम्प्रदायिकता के ऊपर धर्म का आवरण होता है इसलिए लोग अपनी आत्मरक्षा भी साम्प्रदायिक आधार पर करने लगते हैं। धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भी साम्प्रदायिक आधार पर आत्मरक्षा करने को विवश हो जाता है। मैं एक फिल्म का उदाहरण लेता हूँ। भारतीय सिनेमा में एक फिल्म ‘बांम्बे’ बनी थी जिसमें फिल्म का एक कलाकार साम्प्रदायिक दंगों के बीच फंस जाता है वह अपने कंधे पर अपने पोते को बिठाकर बचने को भागता है वह हिन्दू है, मुस्लिम दंगाइयों की एक भीड़ उसके तरफ आती दिखती है तो कंधे पर बैठा उसका पोता अपने बाबा के माथे के तिलक को मिटा देता है ताकि उसके धर्म की पहचान न हो सके। तो यहां निर्देशक के दिखाने का मंतव्य भी यही था कि व्यक्ति अपनी रक्षा साम्प्रदायिक प्रतीकों के आधार पर करने लगा है। अधिकांश दंगे अमूमन सामान्य धार्मिक मुद्दों पर ही होते हैं, जैसे मुहर्रम जूलूस, पीपल का पेड़ काटना, मस्जिद के आगे बाजा बजाना, गौ हत्या, होली पर दूसरे संप्रदाय के लोगों पर रंग, कीचड़ आदि फेंक देना। मंदिर के आगे मांस फेंक देना आदि। जो आज भी साम्प्रदायिक हिंसा के कारण बने हुए हैं। हम स्पष्टतः देखते हैं कि साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक परिस्थितियों के परिणाम होते हैं।

साम्प्रदायिकता रूपी बुराई से समाज का हर वर्ग प्रभावित है। हम देखते हैं कि साम्प्रदायिकता का स्वरूप स्थानीय स्तर पर, वर्गीय स्तर पर, राष्ट्र के स्तर पर, राजनीति के

स्तर पर विद्यमान प्रतीत हो जाता है। पहले के समय में और आज के समय में भी साम्प्रदायिक दंगों में जो प्रत्यक्षतः भागीदारी होती थी उसमें निम्न वर्ग ही अधिक था। समाज का कम पढ़ा-लिखा तबका अभिजात्य नेताओं के उकसावे में आकर जल्दी आक्रोशित हो जाता है और दंगों में शामिल होकर अपना नुकसान करवा लेता है। साम्प्रदायिकता का एक स्वरूप जातीय दंगों में दिखता है जिसमें नेतृत्वकर्ता उच्च वर्ग से भी सम्बन्धित होता है और गरीब वर्ग का व्यक्ति भी नेतृत्वकर्ता हो सकता है। यह स्वेच्छा से उभरता है और सामूहिकता के विषय में सोचता है। जातीय संघर्ष उच्च वर्ग के आपसी हितों के कारण होता है यह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि संघर्ष का आधार निम्न जातियों के आपसी मतभेदों से भी हो सकता है। हम पूर्व में अवलोकन कर सकते हैं और वर्तमान में देख रहे हैं कि जब भी कोई दंगा या जातीय हिंसा होती है उसमें उच्च एवं मध्यमवर्गीय भागीदारी प्रत्यक्षतः न होकर परोक्षतः होती है, इस स्थिति में वह सक्रिय भागीदारी करने वाले वर्ग (निम्न वर्ग) की आर्थिक व नैतिक सहायता निरंतर करते रहते हैं। साम्प्रदायिक दंगे अगर किसी क्षेत्र में हो रहे हैं तो वह किसी सीमा में बंधा नहीं है, इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में तेजी से बढ़ता हुआ दिखाई देता है। जैसे कि हम देखते हैं कि 1893 का आजमगढ़ के मऊ में हुए दंगे का प्रभाव बगल के जिले गाजीपुर, बलिया में तो पड़ता है इसके अलावा बिहार के गया, सारन, पटना को भी तेजी से प्रभावित करता है। साम्प्रदायिक हिंसा जब लगातार जनमानस को प्रभावित करने लगती है तो धर्मनिरपेक्ष व उदारवादी व्यक्ति पर भी इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और कुछ समय के लिए वह भी इसके आधीन हो जाता है और साम्प्रदायिक तत्वों का समर्थन व संरक्षण करने लगता है। साम्प्रदायिक हिंसा के इसी मनोभाव के बारे में नेहरू जी कहते हैं कि 1946 के कलकत्ता नरसंहार ने उन व्यक्तियों के मानस पटल को भी बदल कर रख दिया जो साम्प्रदायिकता की सोच भी नहीं रखते थे। सुरेंजन दास का मत है कि “साम्प्रदायिक हिंसा परिवर्तनशील और ऐतिहासिक घटना होती है यह लोगों की अवधारणाओं एवं इच्छाओं को निर्धारित एवं परिवर्तित करने में प्रभावकारी होती है। लोग बदल जाते हैं उनका सोचने का नजरिया बदल जाता है।

समाजशास्त्र, विज्ञान एवं अर्थशास्त्र के नजरिये से साम्प्रदायिक हिंसात्मक स्थिति का विवेचन करें तो हम देखते हैं कि प्रत्येक सैद्धांतिक क्रियाकलाप किसी न किसी रूप में मानव क्रियाकलाप से जुड़ा हुआ है। जैसे कि मार्क्स अपने सिद्धांत में संघर्ष उत्पत्ति का कारण ‘आर्थिक’ मानते हैं मार्क्स कहते हैं कि आर्थिक संसाधनों पर एकाधिकार स्थापित होने से एक कुंठा की भावना का विकास होता है तब संघर्ष इन्हीं आर्थिक संसाधनों के पुनर्वितरण एवं बंटवारे के लिए होता है। हम भरत में भी देखते हैं कि मुसलमानों के पिछड़ेपन को एक मुद्दा आभिजात्य मुस्लिम वर्ग ने बनाया जिनको अंग्रजों ने खूब हवा दी। मुस्लिम वर्ग सरकारी नौकरियों में पिछड़ रहे हैं इस बात को लेकर एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई जिससे तत्कालीन समय में हिन्दू-मुस्लिम वर्ग में तनाव व्याप्त हुआ जो कहीं-कहीं पर हिंसात्मक रूप में भी दिखता है।

इसमें बिल्कुल संदेह नहीं है कि साम्प्रदायिक हिंसा, साम्प्रदायिक विचारधारा को फैलाने का एक साधन बन जाती है, और साम्प्रदायिक विचारधारा साम्प्रदायिक हिंसा की ओर ले जाती है। परन्तु हम दोनों बात को एक नहीं समझ सकते हैं। बिपिन चन्द्र कहते हैं कि “साम्प्रदायिक हिंसा साम्प्रदायिकता का दिल नहीं है, वह निश्चय ही साम्प्रदायिक विचारधारा के प्रसार का नतीजा है। परन्तु वह साम्प्रदायिक परिस्थिति का मूल प्रश्न नहीं है। साम्प्रदायिक विचारधारा दशकों तक मौजूद रह सकती है किन्तु यह जरूरी नहीं कि वह साम्प्रदायिक हिंसा का रूप ले ही ले। बिपिन चन्द्र कहते हैं कि हालांकि भारत में 1830 के दशक में ही साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रचार एक गौण फैशन के रूप में इतिहास लेखन एवं शिक्षण के माध्यम से प्रारम्भ हो गया था, परन्तु एक वैचारिक संरचना के रूप में इसका उदय 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देखने को मिलता है, फिर भी कुछ स्थानों पर छिटपुट हिंसक घटनाओं को छोड़कर जैसे कि 1930 में पूना और कलकत्ता में साम्प्रदायिक हिंसा लंबे समय तक इस पूरे महाद्वीप में अनुपस्थित रही,

साम्प्रदायिक हिंसा का आरम्भ व्यापक रूप से 1922 के बाद दिखाई देता है। परंतु ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इससे पहले चार दशकों से साम्प्रदायिक विचार धारा का प्रसार हो रहा था। इसी तरह देखा गया कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान साम्प्रदायिक हिंसा अनुपस्थित थी और यह ठीक वही समय था जब भारत में साम्प्रदायिकता बड़ी तेजी के साथ फैल रही थी।

साम्प्रदायिक दंगों के प्रस्फुटन में अगर 'ध्रुवीकरण' की बात करें तो हम देखते हैं कि सामुदायिक ध्रुवीकरण की जो प्रक्रिया है वह सहभागिता के विचारों एवं दृष्टिकोणों के आधार पर पैदा होती है। जो एक नियत उद्देश्य के पहचान के मुद्दे तक पहुंचती है। आम जनता इन मुद्दों को पहचान जाती है या ये कहें कि उनको पहचान करवाया जाता है, तब एक सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। सामूहिक चेतना अपने नये संवेगों का निर्माण करती है या नेताओं या अभिजात्य वर्गों द्वारा निर्मित की जाती है। यदि ऐसे नेताओं का संबंध किन्हीं साम्प्रदायिक संगठनों से होता है तो यह भावनात्मक संवेग बड़ी तीव्रता से किसी उद्देश्य के तहत बढ़ाये जाते हैं। हम देखते हैं कि इन मुद्दों से सम्बन्धित जनता की कुण्ठा की जड़ें बहुत पुरानी और गहराई तक सामूहिक चेतना में फैली होती हैं और अपने मार्गों का निर्माण करती है। सामूहिक चेतना और जागरूकता एक ध्रुवीकृत सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। और इस सामूहिक चेतना से जिन नेताओं का अभ्युदय होता है उनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रभावशाली होकर साम्प्रदायिक दंगों के रूप में सामने आती है। यह घटनात्मक सामूहिक व्यवहार बिना किसी कारण के उत्पन्न नहीं होता, बल्कि इन्हें मूल्यों के तार्किक आधार पर संगठित किया जाता है। स्मेलसर कहते हैं कि प्रत्येक घटना की एक सीमा होती है, जिसके बाद दूसरी घटना उसे कार्यान्वित करती है। ध्रुवीकरण का एक पक्ष अन्तर सामुदायिक ध्रुवीकरण है। हम देखते हैं कि कोई भी धार्मिक समुदाय एवं ध्रुवीकृत समाज में कितनी भी एक जुटता हो उसमें भी छोटे-छोटे वर्ग समुदाय या समूहों का अस्तित्व होता है। जब तक समूह या लोग किसी ध्रुव को अपनाते नहीं हैं तब तक समुदाय की एकजुटता बनी रहती है किन्तु जैसे ही ध्रुवीकरण या उपध्रुवीकरण का प्रारम्भ होता है, तो उपसमूह मतभेदों के साथ उभर कर पहचान में आ जाते हैं। इसलिए उपध्रुवीकृत समूह को सम्पूर्ण समुदाय के समक्ष वरीयता देना एक अन्तर सामुदायिक संघर्ष का स्वरूप, प्रदर्शित करता है। इनके ध्रुवीकरण का आधार क्षेत्रीय, जातीय, और भाषायी हो सकता है। अगर हम देखें तो मुसलमानों में शिया सुन्नी और अहमदिया उपध्रुवीकृत समूह हैं। और हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, सनातन धर्मी और वेदान्ती आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। इसाईयों में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक और सिखों में मजहबी, निरंकारी एवं जाति आधारित जाट, भापे, घूदे आदि उपध्रुवीकृत समूह हैं। यद्यपि हम देखें तो सिख और मुसलमान एकजुट समूह हैं, फिर भी इनमें छोटे-छोटे समूहों का अस्तित्व है। उपसमूह की पहचान के कारक तत्व ही इनको पहचान दिलाते हैं। हम देखते हैं कि जैसे ही अलगाव एवं अलग अस्तित्व की प्रवृत्ति पैदा होती है तो मतभेद के स्वर उभर आते हैं और अलग-अलग रास्तों का निर्माण होता है और यह रास्ते क्षेत्रीयता, जातीयता, तथा भाषायी आधार की ओर मोड़ दिये जाते हैं जैसे एक सटीक समकालीन उदाहरण लेते हैं पाकिस्तान का निर्माण धार्मिक ध्रुवीकरण के आधार पर हो जाता है और पुनः पाकिस्तान से बांग्लादेश का जो निर्माण होता है उसका ध्रुवीय आधार भाषायी हो जाता है। जैसे ही समूह से कोई छोटा समूह अलग होता है तो यह अपनी पहचान अलग-छोटे ध्रुव के रूप में करने लगता है और व्यक्ति दूसरे समूह के व्यक्तियों से अपने को अलग मानने लगता है। जैसे कि कोई मुसलमान अपने को अहमदिया समझने लगता या सुन्नी समझने लगता है या कोई सिख अपने को निरंकारी समझने लगता है तो वह समुदाय के अन्य सदस्यों से अलग प्रतीत होता है। इन प्रक्रियाओं से जो नए समूह निर्मित होते हैं वह अपने मूल समूह से पूर्णतया भिन्न हो जाते हैं। इन समुदायों के जो मतभेद, द्वन्द, तनाव संघर्ष होते हैं वह पूर्णतया इनके व्यवहार पर आधारित होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगे, सामाजिक वास्तविकता जो एक दूसरे का विरोध करती है, को चित्रित करते हैं। इसलिए यह अनिवार्य हो जाता है कि दंगा उत्पन्न करने वाले जो तत्व हैं जैसे कि

बैरभाव, सम्बन्ध, बनावट आदि की सूक्ष्मता से विवेचन किया जाए। इसके लिए व्यक्ति की मनःस्थिति व दंगों के समय की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में अपने अस्तित्व की सुरक्षा में व्यक्ति अपने को अकेला पाता है अकेला व्यक्ति कमजोर होता है जबकि भीड़ में एवं समूह में मजबूती प्राप्त होती है। अतः शक्ति एवं सुरक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संगठित होने का एक बल मिलता है जो धीरे-धीरे एक दूसरे समूह के प्रति हिंसा के रूप में होती है।

बिपिन चन्द्र एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रचार करने वाले सभी लोग जरूरी नहीं कि हिंसा ही चाहते हों उनमें से अनेक लोगों की नजर चुनाव तथा अन्य लाभों पर रहती है। परन्तु साम्प्रदायिक विचारधारा के अपने तर्क हैं, इस विचारधारा के अनुसार समाज विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में बंटा है और उनके हित अलग-अलग तथा परस्पर विरोधी हैं। जैसे ही कोई इस साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रचार करता है, परिणाम उसके हाथ से निकल जाता है। पंजाब एक अच्छा उदाहरण है। हिंदू तथा सिख सांप्रदायवादियों ने वहां शायद ही कभी एक दूसरे के विरुद्ध घृणा का प्रचार किया हो। उन्होंने अपनी साम्प्रदायिकता को इस सीमा के भीतर ही रखने की कोशिशें कीं जो संतुलन नरमी के नाम से जानी जाती हैं। परंतु अंततः घृणा, उग्र सांप्रदायिकता और हिंसा को फैलने से वे नहीं रोक सके।

जब समाज छोटे-छोटे उपध्रुवों में विभाजित होकर अपना एक संगठन बना लेता है इनकी एकजुटता में वंचना, हितों का संघर्ष, मतभेदों आदि का समावेश होता है। यह समुदाय बाकी समुदाय को अपना शत्रु समझ बैठती है। यह अपने पहचान को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। अपने पहचान की स्थापना में यह अलगाववादी रास्ता अख्तियार कर लेते हैं इन समूहों के पास जो शक्ति होती है उसका प्रयोग यह संघर्ष करने में लगाते हैं। जब यह झुण्ड के रूप में रहते हैं तो दंगा करने की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जैसा कि लखनऊ में शिया-सुन्नी के दंगों में देखा जा सकता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, म०प्र० में सवर्ण हिन्दू राजपूत एवं दलितों के मध्य हिंसा को भी साम्प्रदायिक उपद्रव की श्रेणी में रख सकते हैं। साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की व्यवहारिक परिणति साम्प्रदायिक हिंसा के रूप में होती है।

साम्प्रदायिक हिंसा या, साम्प्रदायिक दंगों के पीछे एक लंबी प्रक्रिया हो सकती है, जिसमें अहम भूमिका सांप्रदायिक विचार धारा का धीरे-धीरे जनमानस में व्याप्त होना किन्तु जो दंगों के तात्कालिक रूप होते हैं वह 'अफवाहों' के माध्यम से निर्मित किए जाते हैं। अफवाहों के माध्यम से जो सूचना फैलती है व जनमानस को त्वरित उद्वेलित कर देती है जिनसे तनाव और शत्रुता व्याप्त हो जाती है और दंगों के खतरे की उपस्थित पैदा हो जाती है। अफवाहें वह महत्वपूर्ण हथियार हैं जिससे समाज और लोगों में तनाव और उत्तेजना फैलती है। अफवाहों के माध्यम से राजनीतिक दल या कोई, संगठन अपनी भावनात्मक अपीलों के द्वारा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है। अफवाह संदेह की भावना, असुरक्षा, धमकी और भय का वातावरण बनाती है। हम देखते हैं कि अफवाह समाज में आंशिक मिथ्या या पूर्ण मिथ्या पर आधारित बयान होता है। अफवाह, बढ़ा चढ़ाकर बनाया गया चुम्बकीय वक्तव्य होता है। अपवाहें एक उद्देश्य के तहत फैलायी जाती है जिनसे किसी व्यक्ति, संगठन या समूह को भावनात्मक, मानसिक और शरीरिक रूप से चोट पहुंचा सके। अफवाहों का प्रयोग एक संवेगात्मक लहर पैदा करने के लिए किया जाता है। अफवाहों का नियंत्रण क्या सरल होता है बिल्कुल नहीं। अफवाहें राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भी एक धारदार हथियार की तरह थीं जो सोचने की शक्ति को समाप्त कर लोगों को दंगाई बना देती थी और आज वर्तमान समय में जब सोशल मीडिया और टेलीविजन का समय है, आज अफवाहें और भयानक रूप में समाज में साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने का काम कर रही हैं। मूल तथ्यों को तोड़ मरोड़कर उसे धारदार बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार अफवाहें समाज में एक वृहद सीमा तक फैल जाती है। यह अफवाहें वहीं से आती है जो ध्रुवीकृत जनसंख्या के बीच रहते हैं। जो समाज को हर समय अव्यवस्थित करने की ताक में रहते हैं। हिंसा के प्रति अति संवेदनशील लोग इन घटनाओं को संदेहात्मक दृष्टि

से देखकर असुरक्षा की अफवाह फैलाते हैं। यद्यपि अफवाहों का संबंध मनुष्य के आंतरिक संदेहों से होता है, इसलिए जनमानस इसे तुरन्त स्वीकार करके प्रतिक्रियात्मक रूप में आ जाता है, जो समाज के लिए घातक हो जाता है और विस्फोटक स्थितियों का निर्माण समाज में होने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक विचारधारा, साम्प्रदायिक दंगों, को उत्पन्न करने की एक पृष्ठभूमि तैयार करती है। संप्रदायवाद मूलरूप से एक विचारधारा है और साम्प्रदायिक दंगे इस विचारधारा के अनेक परिणामों में से केवल एक परिणाम हैं। जहां साम्प्रदायिकता व्यक्ति या व्यक्ति समूह की मनः स्थिति है तो वहीं साम्प्रदायिक हिंसा इसका बाह्य विस्फोटक स्वरूप है जो ध्रुवीकृत समूहों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। साम्प्रदायिकता एक ऐसा भाव है जो एकाधिक पंथों अथवा सम्प्रदायों के लोगों के मन में अपने सम्प्रदायों के हितों, व्यक्तिगत स्वार्थों, धार्मिक प्रतिष्ठानों एवं राजनैतिक सत्ता संघर्षों को लेकर दंगों के रूप में बदल जाता है। इन दंगों में आम जनमानस की प्रत्यक्ष भूमिका होती है और उसे ही आर्थिक एवं शारीरिक नुकसान ज्यादा पहुंचता है इसमें आभिजात्य वर्ग या नेतृत्वकर्त्ता दंगों के प्रभावितों से बच जाता है क्योंकि उच्च वर्गीय आभिजात्य वर्ग दंगों को भावनात्मक हवा देकर आम जनमानस को आक्रोशित कर देता है जिसमें धर्म के मुद्दे को हथियार बनाया जाता है क्योंकि यह मुद्दा हर काल में संवेदनशील रहा है। और यह तब तक चलता है जब तक इस पर प्रशासनिक नियंत्रण न लगाया जाए।

हमने जाना कि साम्प्रदायिकता एक विचारधारा के रूप से कैसे पल्लवित होती है और जनमानस पर एक गहरी छाप छोड़ती है जनमानस उसको कैसे ग्रहण करता है यह उसके नेतृत्वकर्त्ता या नेतृत्वकारी संगठनों के विचारों पर निर्भर करता है। जब नेतृत्वकारी संगठन अपने स्वार्थपरक हितों की पूर्ति एवं अपना अस्तित्व बनाये रखने हेतु साम्प्रदायिकता का गलत प्रयोग करता है और अपने समूह को उत्तेजित करता है तो साम्प्रदायिकता, हिंसात्मक रूप धारण कर लेती है और दंगे फसाद शुरू हो जाते हैं जिनका व्यापक प्रभाव आम जनमानस पर पड़ता है क्योंकि यही आम जन ही क्रियात्मक रूप से इस हिंसा में शामिल होता है और भौतिक रूप से इसी का सर्वाधिक नुकसान भी होता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के समय एवं इसके पूर्व के समय को लेकर हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि साम्प्रदायिकता के उदय एवं विकास के कारणों में कौन-कौन से तत्व समावेशित रहें।

साम्प्रदायिकता का उदय, आधुनिक राजनीति के उदय के साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक राजनीति, प्राचीन, मध्ययुगीन या ये कहें कि 1857 के पहले की राजनीति का सीधे तौर पर विकास का ही नतीजा था। बस फर्क यह था कि यह एक नई जमीन पर विकसित हुई थी। राष्ट्रीयतावाद, तथा समाजवाद जैसी अन्य दृष्टियों की भांति ही राजनीति और विचारधारा के रूप में साम्प्रदायिकता का उदय भी तभी संभव हुआ जब जनता की भागीदारी, जनजागरण और जनमत के आधार पर चलने वाली राजनीति, पूरी तरह से स्थापित हो चुकी थी। हम स्पष्ट तौर पर देखते हैं कि आधुनिक युग के पहले की राजनीति में उच्च वर्ग का वर्चस्व था और जनसाधारण उपेक्षित था। जनता विद्रोह भी करती थी, तो राजनीतिक व्यवस्था के बाहर और उसका विद्रोह सफल होने पर उसके नेताओं को पुराने शासक वर्गों में शामिल कर लिया जाता था। बहुत से दूरदर्शी सोच वाले भारतीयों ने इस बात को समझा। पंडित नेहरू ने 1936 में लिखा कि “यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि भारत में साम्प्रदायिकता एक परवर्ती घटना है, जिसका जन्म हमारी आँखों के सामने में ही हुआ है। हम देखते हैं कि भारत में साम्प्रदायिकता की प्रारंभिक शुरुआत 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता की नींव 1880 के दशक में सैयद अहमद खाँ द्वारा उस समय रखी गई थी जब उन्होंने इसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन के ऊपर रखा। सैयद अहमद एक काबिल पढ़े-लिखे शिक्षा के क्षेत्र में अहम जानकारी रखने वाले और एक समाज सुधारक थे किन्तु राजनीति के क्षेत्र में अत्यंत ही रूढ़िवादी थे। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद वह

इसका इस आधार पर विरोध करते हैं कि यह ब्रिटिश विरोधी तथा जनतांत्रिक है। वाराणसी के राजा शिवप्रसाद तथा भींगा के राजा के साथ सैयद अहमद ने 1887 में उत्तर प्रदेश में एक संस्था का गठन किया। उच्चवर्ग-उच्च जाति के मनोभावों का आग्रह करते हुए 1887 में कहते हैं कि "यह बहुत जरूरी है कि वाइसराय की कौंसिल के सदस्य उच्च सामाजिक स्तर के हों। मैं पूछता हूँ, क्या हमारा अभिजात तंत्र यह पसंद करेगा कि निचली जाति या महत्वहीन मूल का कोई व्यक्ति, भले ही वह बी०ए० या एम०ए० हो तथा उपेक्षित योग्यता रखता हो, उनसे ऊपर के अधिकारी के पद पर आसीन हो.....केवल अभिजात वर्ग के व्यक्ति को ही वायसराय अपने सहयोगी के रूप में ले सकता है, उसके साथ भाई जैसा व्यवहार कर सकता है, और उसे उन आतिथ्य-सत्कार के अवसरों पर आमंत्रित कर सकता है, जब उसे ड्यूकों तथा अलों के साथ भोज करना हो।" जब सैयद अहमद ने देखा कि उच्चवर्गीय जमींदार-आधारित विपक्ष को जनसमर्थन प्राप्त नहीं हो रहा है तो वह साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख होते हैं मुसलमानों को मुस्लिम धर्मानुयायियों के रूप में राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध करने का प्रयास करने लगे। सैयद अहमद अब इस बात का प्रचार शुरू करते हैं कि यदि प्रतिनिधिमूलक जनतांत्रिक सरकार बन गई और ब्रिटिश शासन का अंत हो गया और शक्ति भारत को हस्तांतरित कर दी गई तो हिन्दू लोग मुसलमानों पर शासन करेंगे। सैयद अहमद इस कार्य में कुछ हद तक सफल भी होते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि सामान्यतया मुसलमान लोगों के बीच और मध्य वर्ग के बीच भी जमींदारों तथा अभिजात वर्ग की महत्वपूर्ण और प्रमुख भूमिका रही है। इसके साथ ही साथ हिन्दू साम्प्रदायिकता भी जन्म ले रही थी। 1870 के आरम्भ होने वाले दशक से हिन्दू, जमींदार, साहूकार तथा मध्यवर्गीय व्यवसायियों ने 'मुस्लिम' विरोधी नारे लगाना प्रारंभ कर दिया था। भारतीय इतिहास की उपनिवेशवादी भावना को अपनाते हुए (जिसमें हिन्दू काल, मुस्लिम काल, आधुनिक काल, में इतिहास को बांटा गया था) मध्यकाल में मुसलमानों के अत्याचारी शासन तथा मुस्लिम दमन से हिन्दुओं का बचाव करने में अंग्रेजों की 'विमुक्तकारी' भूमिका की चर्चा की। उत्तर प्रदेश और बिहार में उन्होंने हिन्दी के प्रश्न को भी उठाया और हिन्दी को हिन्दुओं की तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा ठहराते हुए उन्होंने इस प्रश्न को साम्प्रदायिक मोड़ दिया। (इस विषय पर आगे विस्तार से चर्चा की गयी है) 1920 से आरम्भ होने वाले दशक में सारे उत्तरी भारत में साम्प्रदायिकता विरोधी सभाओं की स्थापना हुयी जिनके मुख्य कार्य-कलापों को अंग्रेजों के विरुद्ध प्रवृत्त न करके मुसलमानों के विरुद्ध प्रवृत्त किया गया।